वर्णाश्रमी असभ्यता

विभूति नारायण राय

सभ्यता दुनिया की हर भाषा में, मनुष्य को सभ्य बनाने की अनवरत चलनेवाली प्रक्रिया और उससे हासिल होने वाले नतीजों के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द है। यह सभ्य होना क्या है? क्या कोई ऐसी प्रविधि है जिससे एक काल, धर्म, नस्ल, लिंग, भूगोल निरपेक्ष परिभाषा गढ़ी जा सकती है? कुछ ऐसे गुण हो सकते हैं क्या, जिन्हें धारण करने वाला मनुष्य चाहे वह जिस देश काल का हो सभ्य कहला सकता है? सभ्यता की यह यात्रा बड़ी लंबी होती है। एक-दो वर्षों में नहीं बल्कि सैकड़ों वर्षों में धरती के किसी खास भू-भाग में रहने वाले लोग ऐसी जीवन पद्धति विकसित कर पाते हैं जिनमें कुछ-कुछ मात्रा में सब गुण होते हैं जो उन्हें सभ्य बनाते हैं।

मनुष्य को सभ्य बनाने वाले मूल्यों में कुछ काल सापेक्ष होते हैं। इतिहास के एक कालखंड में कोई विचार बड़ा क्रांतिकारी लगता है पर समय के साथ उसकी धार कुंद हो जाती है और वह अपर्याप्त लगने लगता है। मोहम्मद साहब ने कहा कि गुलामों के साथ अच्छा बर्ताव करना चाहिए। अपने समय में वह बड़ी सीख थी। पर आज अगर मोहम्मद होते तो इसकी जगह यह कहते कि गुलामी अमानवीय प्रथा

है, इसे बने रहने का कोई हक नहीं है। इस उदाहरण से अब्राहम लिंकन मोहम्मद से बड़े नहीं हो जाते। जिस समय अब्राहम लिंकन ने गुलामी उन्मूलन का संघर्ष छेड़ा था तब तक मनुष्यता अपने विकास के क्रम में उस बिंदु तक पहुंच चुकी थी जहां गुलामी के पक्ष में कोई विचार चाहे वह किसी भी दर्शन, धर्म या अर्थतंत्र से खाद हासिल करता हो, वैध नहीं हो सकता था। मोहम्मद का विचार अपने समय से आगे था और लिंकन का अपने समय की जरूरतों के अनुकूल। यह उदाहरण सिर्फ इसलिए दे रहा हूं कि मैं यह बात थोड़ा बेहतर ढंग से कह सकूं कि ज्यादातर मूल्य और संस्थाएं समय सापेक्ष होती हैं। इसी के साथ-साथ हमें यह भी याद रखना होगा कि कुछ मूल्य काल को अतिक्रमित कर जाते हैं। वे बुनियादी मूल्य हैं जो मनुष्य को सभ्य बनाते हैं। यही वे मूल्य हैं जिनके बल पर सभ्यताएं निर्मित होती हैं। प्रेम, दया, भाई-चारा और एक-दूसरे की मदद करने की भावना कुछ ऐसे मूल्य हैं जो हर काल, हर धर्म, हर नस्ल में प्रासंगिक बने रहे।

इन्हीं सारे मूल्यों से मिलकर एक ऐसा मूल्य बनता है जो मेरे विचार से किसी सभ्यता को सही अर्थों में सभ्य बनाता है। यह मूल्य है अपने बीच में अपने कमजोर सदस्यों के लिए स्थान छोड़ना। अंग्रेजी में जिसे स्पेस कहेंगे वह प्रदान करना। कमजोरी शारीरिक, आर्थिक, सांस्कृतिक या लैंगिक किसी भी रूप की हो सकती है। यह स्पेस देने की स्थिति किसी भी जीवन पद्धति में एक लंबे अभ्यास के बाद आती है और काफी हद तक सांस्कृतिक, धार्मिक, भौगोलिक और सामाजिक परंपराओं की उपज होती है। यह समुदाय की भाषा और विभिन्न सदस्यों के अंतर्सबंधों में एक स्वतः स्फूर्त और अदृश्य संचालक की तरह मौजूद रहती है।

इस पूरे फार्मूलेशन को समझने के लिए हमें वर्णाश्रम धर्म पर आधारित ब्राह्मण जीवन पद्धति को देखना होगा। वर्ण-व्यवस्था दुनिया की सबसे विशिष्ट और सबसे घृणित व्यवस्था है जिसने कई हजार वर्षों तक एक बड़े समाज को संचालित किया है। विशिष्ट इस अर्थ में कि इसमें मुक्ति के रास्ते निहित नहीं हैं। इसके अतिरिक्त मानव जाति के इतिहास में जो मनुष्य विरोधी संस्थाएं निर्मित हुई उनमें हमेशा मुक्ति की गुंजाइश रही। दास प्रथा, नस्ल और रंग-भेद अथवा लैंगिक असमानता जैसी स्थितियों में पीड़ित के पास हमेशा अपनी स्थिति सुधारने का एक विकल्प रहता था पर वर्णव्यवस्था इतनी ठस और अपरिवर्तनीय है कि उससे छुटकारा पाना लगभग असंभव है। अमानवीयता में इसकी तुलना गुलामी प्रथा से कर सकते हैं। दोनों संस्थाएं हृदयहीन और क्रूर हैं। दोनों समाज के अनगिनत जुल्मों ज्यादती की तकलीफदेह गाथा हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि गुलाम अपनी बेड़ियां तोड़ सकता था। पूरा मध्यकाल ऐसे उदाहरणों से भरा हुआ है जिनमें गुलाम अपने स्वामी राजा को खुश कर उसका उत्तराधिकारी बन बैठा। वर्णव्यवस्था में यह संभव नहीं था कि शूद्र ब्राह्मण की बेटी से शादी करके ब्राह्मण हो जाए या किसी युद्ध में शौर्य का प्रदर्शन करके क्षत्रिय बन सके। वर्णव्यवस्था के प्रशंसक किसी ऐसे काल्पनिक युग का जिक्र करते हैं जिसमें कर्मणा जातियों का निर्धारण होता था। ऐसे किसी समय के ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं हैं जिसमें कर्म के आधार पर किसी को जाति मिलती थी। यदि कर्म के आधार पर जातियां बंटतीं तो वर्णव्यवस्था की जरूरत ही नहीं रह जाती। एक मजेदार उदाहरण बाल्मीकि का दिया जाता है। यदि इन लोगों का तर्क सही माना जाए तो बाल्मीकि जाति के आधुनिक संस्करणों में मेहतर थे और अपनी काव्य प्रतिभा के बल पर ब्राह्मण कर्म करने लगे। यह हास्यास्पद उल्लेख इस तथ्य को भूल जाता है कि बाल्मीकि रचित रामायण शूद्र विरोधी उद्धरणों और व्यवस्थाओं से भरी हुई है। क्या यह तर्कसंगत और मानने योग्य है कि एक शूद्र ने अपने ही वर्णों को नीचा दिखाने वाला ग्रंथ रचा हो?

यह वर्ण -व्यवस्था हमें किस तरह से एक सभ्य समाज बनने से रोकती है इसे समझना जरूरी है। इस व्यवस्था के तहत जो संस्थाएं बनीं उन्होंने कई तरह हमें प्रभावित किया। इसने सबसे पहले तो हमें अपने बीच के अधिसंख्य लोगों को

पशुओं से बदतर मानने के लिए प्रेरित किया। समाज का बहुलांश शूद्र है। जो शूद्र नहीं है उनकी भी आधी संख्या स्त्रियों की है। वर्ण-व्यवस्था इन सभी को मनुष्य के नीचे की योनि का मानती है। इसका सबसे तकलीफदेह पहलू यह है कि इस पूरी घृणित स्थिति को एक दैवीय दार्शनिक वैधता हासिल है। वेद, पुराण, महाभारत और रामायण जैसी धार्मिक पुस्तकें और उनमें निहित पुनर्जन्म तथा भाग्यवाद जैसे दर्शन इस व्यवस्था को ठस और अपरिवर्तनीय बनाते हैं। इसी की वजह से शूद्र के पास ब्राह्मण होने का कोई विकल्प नहीं है। वर्ण-व्यवस्था की दूसरी दिक्कत है कि यह शारीरिक श्रम को हेय मानती है। पूरी दुनिया में शायद ब्राह्मण परंपरा ही एक अकेली परंपरा है जो भीख मांगने को महिमा मंडित करती है। आर्थिक और पारंपरिक रूप से पिछड़े समाजों में भीख मांगने को कभी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया। वर्ण-व्यवस्था ने शारीरिक श्रम को तुच्छ बताया और दास शूद्रों की विशाल फौज ने यह संभव किया कि वे बैठकर खाने वालों के स्वामित्व वाले खेतों में अनाज पैदा करें और उन्हें खिलाते रहें। ऊंची जातियों के लिए हल का मूठ छूना भी पाप का भागी बनना था। ब्राह्मणों ने तो और भी रोचक तरीके से अपने पेट पालने की व्यवस्था की। वे न सिर्फ भीख मांगने में लज्जित होते थे बल्कि भीख लेकर देने वाले पर एहसान भी करते थे—उसका लोक-परलोक सुधारते थे।

वर्ण-व्यवस्था की तीसरी समस्या इसमें अंतर्निहित शिक्षा विरोध है। हम शायद विश्व के सबसे बड़े शिक्षा विरोधी समाज रहे हैं। मोहम्मद ने अपने अनुयायियों से कहा था कि शिक्षा हासिल करने के लिए जरूरत पड़े तो चीन भी जाओ। उस दौर में अरब से चीन जाना कितना दुष्कर था इसका उल्लेख करना जरूरी नहीं है। वर्णाश्रमी परंपरा अपने बीच के अधिसंख्य लोगों को बलपूर्वक शिक्षा से वंचित करती है। गौतम बुद्ध के प्रभाव ने जरूर एक काल विशेष में शिक्षा को सार्वजनिक बनाने का प्रयास किया पर जैसे ही ब्राह्मणों का वर्चस्व पुनर्स्थापित हुआ उन्होंने वैज्ञानिक चेतना का प्रसार करने वाले सबसे बड़े लौकिक शिक्षा केंद्रों—तक्षशिला और नालंदा—को बर्बरता से नष्ट कर दिया और इन विश्वविद्यालयों के विशाल पुस्तकालयों को आग के हवाले कर दिया। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं है कि अपने ही बीच के मनुष्यों को पशुवत् मानने वाला, शारीरिक श्रम में अनास्था रखने वाला और शिक्षा विरोधी समाज दुनिया को कोई बड़ा विचार नहीं दे पाया।

मैंने ऊपर निवेदन किया है कि कोई समाज सभ्य है या नहीं इसे जांचने के लिए हमें यह देखना चाहिए कि वह अपने बीच के कमजोर लोगों के लिए कितना स्पेस छोड़ता है। वर्ण-व्यवस्था का जिक्र मैंने इसलिए किया है कि यह हमारी पूरी जीवन पद्धति को संचालित करती है। समुदाय के एक सदस्य का दूसरे से कैसा रिश्ता हो, खान-पान और कपड़े कैसे हों, उठने-बैठने, विवाह, उत्तराधिकार, रोजगार—गरज यह कि जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसका संचालन वर्ण-व्यवस्था द्वारा बनाए गए नियम न करते हों।

इसलिए अगर यह तय करना है कि सनातनी हिंदू जीवन दृष्टि समाज का निर्माण करती है या नहीं तो हमें यह जांचना होगा कि इसे संचालित करने वाली संस्था वर्ण-व्यवस्था हाशिये पर पहुंचे लोगों के साथ कैसा व्यवहार करती है? इस कसौटी पर कसने पर सनातनी हिंदू समाज का प्रदर्शन बहुत निराशाजनक दिखाई देता है। दुर्बल के प्रति यह बहुत क्रूर है। दुर्बलता किसी भी तरह की हो सकती है, जाति की दुर्बलता तो सबसे भयानक है। शूद्र के घर पैदा हुआ तो मनुष्य भी नहीं है, इससे इतर भी अगर कोई शारीरिक रूप से विकलांग है, आर्थिक रूप से दरिद्र है या फिर स्त्री—सबके लिए इस समाज में भयानक घृणा है। यह घृणा पूरे व्यवहार में परिलक्षित होती है। भाषा—जो हमारे दबे हुए मनोभावों को भी बखूबी अभिव्यक्त करती है, इन सबसे हर कदम पर नफरत करती दिखती है।

देश के जिन भागों पर वर्णव्यवस्था की जकड़न जितनी मजबूत थी उनकी भाषा उतनी ही अधिक क्रूर और दुर्बल विरोधी है। हिंदी का उदाहरण लें तो स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। दलितों और स्त्री को लेकर तमाम गालियां हैं। चमार स्वाभाविक

रूप से चोर है इसलिए चोरी चमारी है। भाषा के बड़े कवि तुलसीदास कह ही गए हैं कि 'ढोल गंवार सूद्र पसु नारी, सकल ताड़न के अधिकारी।' भाषा सामाजिक संरचना की तरह ही बहुस्तरीय है। जिस तरह समाज में जातियों के बैठने का आसन उनके वर्ण के अनुसार निर्धारित है उसी तरह आसन ग्रहण करने के लिए बैठ, बैठो या बैठिए शब्द भाषा में हैं जो व्यक्ति की सामाजिक या आर्थिक हैसियत के मुताबिक इस्तेमाल किए जाते हैं। मुझे नहीं लगता कि दुनिया की किसी भी भाषा में त्रिस्तरीय संबोधन उपलब्ध हैं। आप, तुम और तू सिर्फ संबोधन नहीं हैं बल्कि संबोधित को उसकी औकात का एहसास कराने वाले दंश भी हैं।

भाषा में निहित यह तिरस्कार सिर्फ वर्ण या लिंग पर आधारित कमजोर के लिए ही नहीं है। शारीरिक अथवा मानसिक रूप से विकलांग बार-बार इस भाषिक कोड़े से पीटे जाते रहे हैं। अंधे, काने, लूले, लंगड़े, कोढ़ी या कुबड़े के लिए हमारी भाषा में भयानक घृणा भरी है। भाषा की घृणा समाज के अंदर मौजूद घृणा का प्रतिबिंब है। हमारा समाज इन अक्षम लोगों से कैसा व्यवहार करता है यह उसमें प्रचलित लोकोक्तियों और समाज के सक्षम सदस्यों द्वारा उनके साथ किए जाने वाले व्यवहार से स्पष्ट है। शारीरिक विकलांगता सहानुभूति का विषय न होकर मजाक उड़ाने या तिरस्कृत करने का माध्यम है। मांगलिक कार्यक्रमों में इनकी उपस्थिति अशुभ मानी जाती है। यह दृश्य बहुत आम है जब आप किसी विवाह के अवसर पर काने या कोढ़ी को दुरदुराकर भगाए जाते देख सकते हैं। बच्चों के परीक्षा देने के लिए घर से निकलने पर अगर कोई शारीरिक विकलांग सामने पड़ गया तो बच्चे को वापस बुलाकर अशुभ टाला जाता है। इसी तरह किसी पागल पर पत्थर बरसाते बच्चे दिखाई दें या उसे घेरकर उसका मजाक उड़ाते हुए लोग दिखें तो हमें बहुत आश्चर्य नहीं करना चाहिए क्योंकि वर्णाश्रम धर्म पर आधारित जीवन मूल्य हमें सिर्फ कमजोर से घृणा करना ही सिखा सकते हैं उनसे सहानुभूति करने या उनकी सेवा करने का जज्बा नहीं पैदा कर सकते।

अपने बीच के कमजोरों के प्रति हम कैसा व्यवहार करते हैं इसका सबसे बड़ा उदाहरण सड़क पर चलने वाला ट्रैफिक है। जो जितना ताकतवर है सड़क पर उसका उतना ही ज्यादा अधिकार है। ट्रक वाला सबको रौंदता हुआ जा सकता है, कार वाला उससे तो डरता है पर दोपहिया वाहन या पैदल चलने वालों के लिए उसके मन में कोई दया नहीं है। पश्चिमी समाज को हम हमेशा यांत्रिक और मानवीय मूल्यों से अपने मुकाबले वंचित समाज मानते हैं। पर वहां एक ऐसा दृश्य दिखाई देता है जो हमारी सड़कों पर कभी नहीं दिखेगा। चौराहों पर यातायात के सिग्नल वाले खंभों पर बटन लगे हैं जिनका इस्तेमाल पैदल चलने वाले करते हैं। अगर आपको सड़क पार करनी है तो आप बटन दबा दें और चारों तरफ से आने वाली गाड़ियां रुक जाएंगी, आप सड़क पार कर लें तब फिर यातायात चालू हो जाएगा। हम जैसे हिंदुस्तानियों से यह गलती हो सकती है कि हम ट्रैफिक लाइट को नजरअंदाज कर खतरनाक तरीके से सड़क पार करने की कोशिश करें पर वाहन चालक हमें सड़क पर उतरते देखकर फौरन अपना वाहन रोक देंगे और हमें पहले सड़क पार करने का इशारा करेंगे। मैं कई बार ऐसे अनुभवों से गुजरा हूं जब भारत में या तो कोई वाहन वाला मुझे कुचल डालता या फिर अंधा या उल्लू जैसे संबोधनों से नवाजता। इसी तरह एक और दृश्य मुझे यात्राओं में चकित करता रहा है। ट्रेनों या बसों में किसी अंधे, बूढ़े या महिला के प्रवेश करते ही लोग आदतन खड़े हो जाते हैं और उसके लिए जगह खाली कर देते हैं। हमारे इस महान जगद्गुरु देश में तो इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

मैं कई बार सोचता हूं कि पश्चिम, जिसने लोगों को गुलाम बनाया, अपने उपनिवेशों में जाकर लूटपाट की और आज भी दुनिया में नवउपनिवेशवाद का परचम लहरा रहा है—वियतनाम, लैटिन अमेरिका या इराक जिसकी ज्यादतियों के शिकार रहे हैं, वह कैसे अपने समाज में कमजोरों के लिए इतना स्पेस छोड़ता है? वाह्य संबंधों में निहायत ही खुदगर्ज

और क्रूर समाज क्या अपने आंतरिक व्यवहार में इस कदर उदार हो सकता है? पर यह है। यह उदारता डंडे के बल पर नहीं आती। इसके लिए एक लंबे अनुशासन की जरूरत होती है। सैकड़ों वर्षों के जीवन अनुभव इसके पीछे होते हैं।

कोई भी समाज कई चरणों में आंतरिक सभ्यता हासिल करता है। इनमें सबसे बड़ी भूमिका किताबों की होती है। इनसे प्रभावित होने वाले लोग इनमें से कुछ को आसमानी मानते हैं। अर्थात् ये दैवीय हैं और इसलिए अपरिवर्तनीय। आंतरिक सभ्यता के सोपान वही समाज तेजी से चढ़ता है जो इन आसमानी किताबों की दुनियावी जानकारियों और जरूरतों के मुताबिक नए भाष्य करता रहता है। पश्चिम का ईसाई समाज इस मामले में दूसरों से आगे रहा है। क्रुसेड और चर्च के आधिपत्य वाले मध्ययुग में इसने बहुत-सी स्वीकृत स्थापनाओं को चुनौतियां देनी शुरू कर दी थीं। चर्च के कमजोर पड़ते जाने और पश्चिम के विशाल ईसाई समाज की आंतरिक उदारता की यात्रा साथ-साथ चली है और यह कहना ज्यादा उचित होगा कि दोनों ने एक दूसरे की मदद ही की है। गुलामी और रंगभेद जैसी दो घृणित संस्थाओं से इस समाज ने आंतरिक उदारता की इसी जद्दोजहद के चलते छुटकारा पाया है।

भारतीय समाज को आंतरिक सभ्यता हासिल करने के लिए वर्णव्यवस्था में छुटकारा पाना बेहद जरूरी है। यह भी एक दिलचस्प अध्ययन का विषय हो सकता है कि हम इस गंदी संस्था से निजात क्यों नहीं हासिल कर सके? हमारे लिए तो यह दूसरे धर्मावलंबी समाजों के मुकाबले ज्यादा आसान होना चाहिए था। हमारी कोई किताब उस अर्थ में दैवीय नहीं है जिस अर्थ में दूसरे धर्मों की किताबें हैं। वेदों को भी बहुत बाद में अपौरुषेय कहा गया। कम-से-कम वर्णव्यवस्था को एक विधान के रूप में स्थापित करने वाली मनुस्मृति या लोक में स्वीकृत कराने वाली रामचरित मानस जैसी पुस्तकों को तो कोई भी दैवीय नहीं कहता। यदि कोई पुस्तक आसमान से नहीं उतरी है तो वह अपरिवर्तनीय भी नहीं होगी। काल की आवश्यकताओं के अनुसार उसमें संशोधन या उसके भाष्य हो सकते हैं। फिर क्यों नहीं हमारे अंदर स्वयं ऐसी इच्छा शक्ति पैदा हुई कि हम इसी गंदी व्यवस्था को खुद ही उखाड़ फेंकते? हमने हमेशा इसके खिलाफ जाने वाले विचार को कुचलने का प्रयास किया।

गौतम बुद्ध ने मनुष्यों की समानता की बात की पर ब्राह्मण इन्हें लील गए। इस्लाम ने समानता पर आधारित जातिविहीन समाज का दर्शन सामने रखा। आपसी मारकाट में फंसे भारतीय समाज के लिए यह तो संभव नहीं हुआ कि वह उन्हें हजम कर ले पर ब्राह्मणों ने उनसे तर्क करने से ही इंकार कर दिया। कमजोर दार्शनिक भावभूमि पर खड़े वर्णाश्रम समर्थकों को उनसे वैचारिक मुठभेड़ करने से आसान यह लगा कि उन्हें म्लेच्छ घोषित कर उनसे किसी तरह के संवाद से ही बचा जाए। फ्रांसीसी, पुर्तगालियों या अंग्रेज शासकों के आते-आते यह स्थिति हो गई कि संवाद से बचा नहीं जा सकता था और एक बार जब विरोधी दर्शन से मुठभेड़ शुरू हुई तब यह कोई आश्चर्य नहीं था कि जन्माधारित श्रेष्ठता का मूर्खतापूर्ण दर्शन कुछ ही दशकों में भहराकर ढह गया। एक बार शिक्षा को सार्वजनीय किया गया तो संस्कृति की शूद्र व्याख्या हमारे सामने आई और उसने ब्राह्मण वर्चस्ववादिता को चुनौती देना शुरू कर दिया।

आज स्थिति यह है कि शूद्र व्याख्या ने ब्राह्मण वर्चस्व को कमजोर तो किया है पर पूरी तरह से समाप्त नहीं कर पाई है। कई हजार वर्षों की जीने की आदत इतनी जल्दी खत्म भी नहीं होगी। ब्राह्मण विकृतियां इतनी गहरे पैठी हुई हैं कि वह शासक शूद्रों के मन में ब्राह्मण बनने की ललक पैदा कर देती है। वह भी उन्हीं कर्मकांडों में लिप्त हो जाता है जिनमें ब्राह्मण लिप्त रहा है। साफ है कि अगर हम एक सभ्य समाज बनना चाहते हैं तो हमें वर्णाश्रम धर्म को नष्ट करना पड़ेगा। बिना जातियों पर आधारित श्रेष्ठता के सिद्धांत को नष्ट किए हम सभ्य नहीं हो सकते।